भारतीय समकालीन हिन्दी सिनेमा में राजनीतिक स्वर और युवा
[उदारीकरण के विशेष संदर्भ मे]

एम०फ़िल० नाट्य कला एवं फिल्म अध्ययन विभाग
हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध
सत्र: 2013-14

निर्देशक
डा० विधु खरे दास
असिस्टेंट प्रोफेसर
सृजन विद्यापीठ
नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग

शोधार्थी
गौरव शुक्ल
2013/07/204/006
2013-2014

नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित)
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) भारत
दूरभाष: 07152-251170 बेबसाइटः www.hindivishwa.org

घोषणा-पत्र

मैं घोषित करता हूँ कि सृजन विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, एम॰ फ़िल॰ उपाधि हेतु **'भारतीय समकालीन हिन्दी सिनेमा में राजनीतिक स्वर [उदारीकरण केविशेष संदर्भ मे]'** विषय पर **डा॰ विधु खरे दास** असिस्टेंट प्रोफेसर सृजन विद्यापीठ के नियमित शोध-निर्देशन में मैंने अपना शोध-प्रबंध पूरा किया है।

यह मेरा मौलिक, अप्रकाशित शोध-प्रबंध है । यह शोध-प्रबंध अन्य किसी संस्था/विश्वविद्यालय की किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है और न ही मेरे संज्ञान में इस विषय पर किसी भी शोधार्थी को एम॰ फ़िल॰ या अन्य उपाधि प्राप्त हुई है ।

(गौरव शुक्ल)
शोध-अध्येता
नाट्य कला एवम फिल्म अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

दिनांक:
स्थान : वर्धा

अनुक्रमणिका

क्रम सं॰	अध्याय	पेज संख्या
1 -	प्रस्तावना	1-4
2-	भारतीय समकालीन हिन्दी सिनेमा के राजनीतिक स्वर और इतिहास	5-26
3-	उदारीकरण और सिनेमा	27-45
4-	उदारीकरण के दौर और नए सिनेमा के संदर्भ मे आई कुछ फिल्मों का वस्तुगत विश्लेषण	46-112
5-	समकालीन हिन्दी सिनेमा का राजनीतिक स्वर और युवा	113-118
6	उपसंहार	119-130
7-	संदर्भ ग्रंथ सूची	

प्रस्तावना

राजनीति का तात्पर्य है, राज्य की नीति जिसमे राज्य को शासित किया जाता है. परन्तु जब इसको हम वृहद् अर्थो मे देखते हैं तो यह केवल राज्य ही नहीं वरन समस्त सामाजिक, निजी, और आर्थिक परिवेश और ढ़ांचे को नियंत्रित करने वाली नीति के बतौर मिलती है. यही कारण है कि भारत मे राजनीति को एक महत्वपूर्ण दर्जा हमेशा से दिया गया है. प्रोफ़ेसर अमर्त्य सेन कहते हैं कि "भारत मे किसी भी बातचीत का अन्त राजनीति पर होता है अथवा उसकी शुरुआत राजनीति से होती है. "

इसी प्रकार सिनेमा को भी समाज का वह अंग मानते है जो समाज के सच को सामने रखने मे सक्षम हो. सच चाहे जितना विद्रूप और कठोर हो, यदि सिनेमा के माध्यम से परदे पर दिखता है तो वह उचित ही कहा जाता है. राजनीति और सिनेमा का सम्बन्ध हमेशा से रहा है सिनेमा मे हमेशा हमने राजनीतिक स्वर का एक बिम्ब मौजूद देखा है. राजनीतिक मुद्दे वस्तुतः दो प्रकार के होते हैं एक जो विशुद्ध राजनीति से उत्पन्न होते हैं और दूसरे विकास के मुद्दे जिनका राजनीतिकरण होता है भारत मे मुख्यधारा और समानान्तर दोनों सिनेमा मे यह समान रूप से मौजूद रहा है. वी. शान्ताराम की "आदमी" जो बांध की समस्या पर थी, एक विकास के मुद्दे पर बनी राजनीतिक फ़िल्म कही जा सकती है. इसी तरह दिलीप कुमार की 'नया दौर' भी विकासात्मक राजनीतिक आधार की चर्चा करती है. 'आंधी', 'किस्सा कुर्सी का', 'मेरे अपने' जैसी फिल्मे राजनीतिक स्वर वाली थी.

उदारीकरण के पहले सिनेमा में यह स्वर काफी मजबूत रहा क्योकि समानान्तर सिनेमा ने इसे प्रमुखता से अपनाये रखा. परन्तु उसके बाद इस स्वर मे लगातार गिरावट आती गयी. हालाँकि यदि यह कहा जाये की हर फ़िल्म में कही न कहीं एक राजनीतिक स्वर मौजूद होता है तो गलत नहीं होगा. परन्तु विशुद्ध राजनीतिक सिनेमा खो सा गया.

हालाँकि सन २००० के बाद इसमें तब्दीली आयी और मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने फिर से इस स्वर को ऊपर उठाया.

आज के दौर मे राजनीतिक स्वर सिनेमा मे मौजूद दिखता और सुनाई देता है. तथा सबसे बड़ी बात कि युवा उससे प्रभावित भी हो रहा है. बात चाहे 'गुलाल' की हो , 'साहब बीबी और गैंगस्टर' हो अथवा 'हजारो ख्वाहिशें ऐसी' हो. युवा अब इस सिनेमाई स्वर मे रूचि लेने लगा है.

यही कारण है कि भारतीय समकालीन सिनेमा मे राजनीतिक स्वर को जानना महत्वपूर्ण सा हो गया है.

उद्देश्य

शोध विषय को निश्चित करने के पश्चात उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण अनिवार्य हो जाता है. संचार और फ़िल्म सम्बन्धी शोध के उद्देश्य जितने सुस्पष्ट होंगे, अध्ययन सम्बन्धी सामग्री और प्ररचना निर्माण में उतनी अधिक सहायता होगी.

शोध विषय "भारतीय समकालीन सिनेमा मे राजनीतिक स्वर और युवाओं का अभिमत" के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :-

1- सिनेमा में राजनीतिक स्वरों की भूमिका

2- सिनेमा के सामाजिक दृश्य पटल पर इन राजनीतिक स्वरों का चित्रण

3- सिनेमा का राजनीतिक अंतर्संबंध.

4- युवाओं पर सिनेमा के इस राजनीतिक स्वर का प्रभाव

5- युवाओं की सामाजिक और राजनीतिक महत्वाकांक्षा तथा सिनेमा.

प्राक्कल्पना

किसी घटना विशेष की व्याख्या करने वाला सुझाव अथवा कई विभिन्न घटनाओं के आपसी अंतर्संबंध को व्याख्यायित करने वाला तथ्य ही परिकल्पना कहलाती है. वैज्ञानिक शोध की द्रष्टि से यह अनिवार्य है कि परिकल्पना परीक्षण योग्य हो तथा उसकी पुष्टि हो सके.

1- समकालीन भारतीय सिनेमा मे राजनीतिक मुद्दों का स्वरुप

2- क्या सिनेमा का राजनीतिक स्वर उसे महत्वपूर्ण बनाता है.

3- युवाओं पर इस राजनीतिक स्वर का बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ता है. वे उसे किस तरह देखते हैं.

4- राजनीतिक विषय सिनेमा से अभी अछूते से हैं. क्यों.

उपसंहार

आमिर और नो वन किल्ड जेसिका बनाने वाले **राजकुमार गुप्ता** कहते है कि **"मुझे लगता है सब कुछ में पॉलिटिक्स है। मैंने आमिर और नो वन किल्ड जेसिका पॉलिटिकल सोचकर नहीं बनायी। मुझे कभी कोई दिक्कत नहीं हुई। हम सबसे बड़े डेमोक्रेटिक कंट्री हैं और मजे की बात है कि सबसे कम राजनीतिक फिल्में यहीं बनी हैं। विनीत कुमार के कथन पर मुझे जेसिका में एनडीटीवी की भूमिका पर नाराजगी है। स्थिति पहले प्रेडिक्ट की गयी थी और टूजी घोटाला बाद में आया। हमें एक ऐसे चैनल की जरूरत थी, जिसका बजट कम हो सो हमने एनडीटीवी को लिया। पॉलिटिकल फिल्म को लेकर फिल्ममेकर में एक डर है कि उसकी फिल्में रिलीज नहीं होंगी। सेंसर बोर्ड के बाद भी इतने सारे डायनामिक्स हैं कि दिक्कत आ ही जाती है। सेंसरशिप का मुद्दा अहम है। जब फिल्में बैन होती हैं, तो मेहनत पानी में चली जाती है। मुझे तो ब्लैक फ्राइडे के बैन के बाद इतना डर लग गया कि अब कभी पॉलिटिकल फिल्म ट्राई नहीं करूंगा। मैं उस दर्द से डरता हूं, जो एक फिल्म के रिलीज नहीं होने से होता है क्योंकि फिल्म बनाने में बहुत मेहनत, पैसा, इमोशन लगता है। जिनको डर नहीं है, वो बनाएं पॉलिटिकल सिनेमा, कौन रोक रहा है."**

उनका ये बयान इस बात को बताने के लिए काफी है कि भारत में आखिर क्यों निर्देशक राजनीतिक सिनेमा की तरफ रुख नही कर पता. वास्तव में जिसे डर न हो वह शौक से इस तरह का सिनेमा बना सकता है लेकिन फिल्म दर्शकों तक पहुचेगी या नहीं इस बात की कोई गारंटी नहीं है. ब्लैक फ्राइडे पर लगी रोक से ये बात हमे आसानी से समझ आती है. आज इसी बात को समझते हुए श्याम बेनेगल ने भी अपनी फिल्म का अंदाज बदल दिया है. उनकी वेल डन अब्बा और वेलकम टू सज्जनपुर दोनों ही फिल्मे है तो राजनीतिक लेकिन कहने का अंदाज जुदा है, वो अब व्यंग के माध्यम से अपनी बात कहते है. यह सच में बड़ा बदलाव है.

सुभाष कपूरभी इसी बात से इत्तेफाक रखते हुए कहते है कि

"मैंने तो अपनी फिल्मों में पॉलिटिक्स दिखायी है, हां तरीका अलग अपनाया। किसी ने किसी को नहीं रोका कि ये न बनाओ, वो बनाओ। पर सच्चाई यह है कि फिल्मों में पैसे लगते हैं, मेहनत लगती है। कोई फिल्ममेकर बेवजह अपनी फिल्म को बैन जैसी स्थिति में क्यों देखे।"

ये बात है फिल्मकार की जो ऐसा सिनेमा रचने का साहस दिखाता है. फ़िल्में राजनीतिक स्वरों वाली तो होती ही है, बस ये टोन अलग अलग तरीके से सुनी और सुनाई जाती है युवा इस स्वर से सबसे ज्यादा प्रभावित होता है. याद करे आरक्षण के उस सीन को जिसमे मनोज बाजपेई कहते है "करारा जवाब मिलेगा". ये भाषा के तौर पर नयी सरंचना कही जा सकती है, जिसको युवा हाथोहाथ लेता है. भारत में युवा के अन्दर सबसे खास बात ये है कि वो अपने करियर को लेकर तो सजग है लेकिन सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य पर भी नजर रखता है और आन्दोलन से जुड़ने का माद्दा रखता है. दिल्ली में अन्ना के आन्दोलन को हम उद्धरण के तौर पर इस्तेमाल कर सकते हैं. इसमें युवा की भागीदारी जबरदस्त थी. वही युवा दामिनी रेप केस के बाद न्याय के लिए फिर सडको पर उतर पड़ता है और इस बार तो सबसे बड़ी बात ये होती है कि इसके लिए कोई उसका नेतृत्व नहीं कर रहा होता है. वो कोई भेड़ो का झुण्ड नहीं है जिसको जिधर हाक दो उधर चल दे. वह सोचता है, समझता है फिर निर्णय लेता है और यही बात हम फिल्मों में भी देखते है. आज के निर्देशक युवा ही है और वे इस बात को समझते है. यही कारण है कि अब फिल्मों में यदि कोई प्रेमकहानी भी दिखाता है तो उसको बेसिर पैर की नहीं दिखाता बल्कि एक बदलते माहौल को ध्यान में रख कर रचता है. 'शुद्ध देसी रोमांस' और 'डेल्ही बेल्ली' कुछ ऐसी ही फ़िल्में है वही हम धोबीघाट को भी देख सकते है जो मुंबई को प्रेमिका की नजर से पेश करती नजर आती है. सिनेमा में बदलाव की बात तो हो रही है लेकिन क्या सिनेमा वास्तव में बदल रहा है.

शोध उद्देश्य और उनके आधार पर निष्कर्ष –

मेरे शोध विषय 'भारतीय समकालीन हिंदी सिनेमा में राजनीतिक स्वर और युवा' के उद्देश्य जो मैंने निर्धारित किये थे और उसके अनुसार जो परिकल्पनाएं तैयार की थी उनके परिणाम निम्नलिखित है.

1- सिनेमा के राजनीतिक स्वर को सबसे पहले जानने की कोशिश की गयी. चूँकि विषय को एक काल खंड में सीमित किया गया था इसीलिए फिल्मों का चयन भी उसके अनुसार ही किया गया. उदारीकरण के पश्चात के सिनेमा को ही केवल देखने की कोशिश की गयी. इसके पीछे का करण यह था कि वैसे तो हिंदी सिनेमा का कालखंड काफी लम्बा है. सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हिंदी सिनेमा में कला और समानान्तर सिनेमा के दौर में तो कई राजनीतिक फ़िल्में बनी लेकिन क्या यह उदारीकरण के बाद भी संभव रह सका.

शोध कार्य में मैंने ये पाया कि उदारीकरण के पश्चात सिनेमा में राजनीतिक स्वर लगभग गायब हो गया. ये विडम्बना ही कही जा सकती है कि 1990 से 2000 तक कोई भी ऐसी फिल्म सामने नहीं आई जिसमे एक मजबूत राजनीतिक स्वर हो. हाँ, माचिस, हु तू तू, सत्या और शिवा जैसी कुछ फिल्मों को अगर छोड़ दिया जाये. रोजा को भी हम इसमें गिन सकते हैं लेकिन वह फिल्म मूल रूप से तमिल में बनी थी और बाद में हिंदी में डब होकर आई, इसीलिए उसको हिंदी सिनेमा में नहीं गिना जा सकता. सन 2000 के पश्चात एक बड़ा परिवर्तन सिनेमा जगत में आया. मल्टीप्लेक्स का उदय हुआ और नए फ़िल्मकार सामने आये.

यही से सिनेमा में परिवर्तन आता है और विषय भी बदलने लगते हैं. इसके पीछे सबसे बड़ा कारण आर्थिक है. बिना पैसों के फिल्म नही बन सकती और यदि कोई व्यक्ति मेहनत से फिल्म बनाये और उसको सेंसर या फिर अदालत रोक दे तो ये उसके नुकसान का सौदा होगा. इसके अलावा सिनेमाई कथ्य की भी हम इसमें बात कर सकते है. बात सिनेमा में राजनीतिक स्वर की है और ये 20वी शताब्दी के अंत में सिनेमा में सही से सुनाई देता है. उसके पहले केवल मसाला और मारधाड़ वाली फ़िल्में ही बन रही थी.

हालाँकि अपराध और राजनीति के गठजोड़ पर कई फ़िल्में आई. रामगोपाल वर्मा ने इसी थीम पर सबसे ज्यादा काम किया इस दशक में. उनके अलावा कई अन्य निर्देशक भी सामने आये. महेश भट्ट की 'ज़ख़्म' को कुछ मायनों में याद किया जा सकता है क्योकि यह फिल्म दंगे और उसके बाद की एक अलग सी कहानी है. इस फिल्म में एक सहमा सा राजनीतिक स्वर है जो कुछ कहने की कोशिश करता है लेकिन दबा दिया जाता है, मुखरता छुप जाती है उसकी..

2- सिनेमा के दृश्यपटल पर राजनीतिक स्वरों का चित्रण और राजनीतिक मुद्दों का स्वरुप-

मेरे द्वारा अध्ययन के लिए चयनित फिल्मों का जब वस्तुगत विश्लेषण मैंने किया तो यह पाया कि सिनेमा में अब स्वर भिन्न हो गया है. गुलज़ार निर्देशित 'आंधी' को हम याद करे तो यह पाएंगे कि उसमे एक नेत्री की जीवनी है और उसके राजनीतिक करियर की कहानी है. कई लोग इसको इंदिरा गाँधी की कहानी कह रहे थे और इसी बात के चलते शायद इस फिल्म पर प्रतिबंध लग गया था. वही आज के दौर में यदि मधुर भंडारकर निर्देशित 'सत्ता' को देखे तो ये भी कहानी कुछ वैसी ही है लेकिन इसमें कहने के अंदाज बदल गए है. यह फिल्म महिला राजनीति की चर्चा करती है और उन नेत्रियों के जीवन के अन्दर झांकती है.

इसी तरह अपराध और राजनीति के गठजोड़ पर बनी कई फ़िल्में हमारे जेहन में कौंधती है लेकिन याद हमे केवल 'शूल' 'सत्या' जैसी फ़िल्में ही रहती हैं. वर्तमान सिनेमा की सबसे खास बात यही है कि इसने कहानी कहने के अंदाज को बदल दिया है और अब नया सिनेमा नए तरीके से रचा जा रहा है क्योकि निर्देशक प्रयोग करने से नही हिचकिचा रहा है. 'लव सेक्स और धोखा' को एक बेहतरीन प्रयोगात्मक फिल्म कहा जा सकता है तकनीक और कहानी दोनों के लिहाज से. 'अटैक ऑफ़ 26/11' जिसका निर्देशन रामगोपाल वर्मा ने किया, वह भी एक ऐसी ही फिल्म थी. इसके राजनीतिक स्वर पर चर्चा करें तो यह पाएंगे कि इसमें मुद्दे को पेश करने का नया तरीका इजाद किया गया है. पूरी

फिल्म सिर्फ घटना दिखाती है और कुछ नही. मात्र इतने से ही वह दर्शक को झकझोर कर देती है. एक आंतकवादी हमले को इस तरह भी पेश किया जा सकता है. इसके अलावा ऐसी कई फ़िल्में है जैसे 'दिल से' 'रोजा' 'पुकार' आदि. लेकिन इनमे इसी मुद्दे को भिन्न तरीके से पेश किया गया है.. हाँ माचिस को इस मामले में बेहतर कहा जा सकता है क्योकि वह फिल्म भावनात्मक तौर पर दर्शक को जोड़ती है. समकालीन हिंदी सिनेमा में भ्रष्टाचार, आरक्षण, आंतकवाद, नक्सलवाद, महिला सुरक्षा, राजनीति का अपराधीकरण, गुंडा राज, सामन्ती मानसिकता जैसे कई मुद्दों पर फ़िल्में बन रही है और दर्शक उन्हें पसंद कर रहे है. यह बात अनुराग की गैंग्स ऑफ़ वासेपुर, हंसल मेहता की 'शाहिद' जैसी फ़िल्में साबित करती है. यह बात अलग है कि इन फिल्मों को भी सेंसर और कई अन्य कैचियों का सामना करना पड़ता है.

3- सिनेमा का राजनीतिक अंतर्संबंध और उसकी महत्त्वपूर्णता-

इस परिकल्पना को जांचने के लिए मैंने फिल्मों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को जानने का प्रयास किया. चूँकि मेरा विषय पहले ही उदारीकरण के बाद के सिनेमा को लेकर विशेष सन्दर्भ में था अतः यह जानना आवश्यक था कि आखिर उदारीकरण ने सिनेमा जगत को कितना प्रभावित किया है और उसके स्वरूप को किस हद तक बदला है.

हिंदी फिल्म इंडस्ट्री को जब उद्योग का दर्जा दे दिया गया उसके बाद सिनेमा में बड़ी पूँजी आनी शुरू हो गयी और कई बड़े उद्योगपतियों ने अपना पैसा लगाना शुरू किया. रिलायंस, वायकाम 18, यूटीवी मोशन, आदि ने फिल्मों की तरफ रुख कर लिया और इसके साथ ही डिज्नी, यूनिवर्सल स्टूडियो, फॉक्स स्टार, जैसे बड़े विदेशी समूह भी भारत में पूँजी लगाने लगे. इसके फलस्वरूप ही इस शताब्दी की शुरुआत में ही देवदास और द हीरो जैसी फ़िल्में सामने आई, जिनका बजट 50 करोड़ था. यह सिनेमा में पूँजी का दौर था क्योकि अब ये पूँजी मल्टीप्लेक्स के बहाने से वापस आ रही थी और साथ ही फिल्मों

के वर्ल्डवाइड रिलीज से भी. यहाँ पर ही इसके राजनीतिक अंतर्संबंध सामने आते है. सिनेमा राजनीति से अछूता नही रह सकता है. बात चाहे उसे परदे पर लाने की हो या फिर इसके लिए मार्केट तैयार करने की. बाज़ार एक बड़ी भूमिका था और यह बात निर्देशक जानते थे, इसीलिए सिनेमा में नए विषय तो आये ही, साथ उसके स्वरों में भी परिवर्तन आया. अब इस सिनेमा को मसाला सिनेमा और आर्ट सिनेमा में नही बांटा जा सकता है क्योकि सब कुछ मेनस्ट्रीम में ही शामिल है. यही कारण है कि पहले जहाँ प्रोड्यूसर होता था जिसके पीछे निर्देशक चक्कर लगाता था, अब निर्देशक खुद प्रोड्यूसर बन बैठा है. अनुराग कश्यप की फैंटम प्रोडक्शन, करण जौहर की धर्मा प्रोडक्शन जैसे कई नाम हमारे सामने है. लोग अब खुद ही फिल्म प्रोड्यूस कर रहे है क्योंकि सिनेमा मुनाफे का धंधा है और यह तो फिर डिजिटल युग है जिसमे सिर्फ फिल्म की आधी लागत तो सेटेलाइट प्रसारण अधिकार बेचकर निकाल ली जाती है. फिल्म में राजनीतिक अंतर्संबंधो पर चर्चा में पाया कि अब सारा खेल कहानी और निर्देशन का है जो कि पहले भी था लेकिन उसका स्वरूप थोडा अलग था क्योकि प्रोड्यूसर को पैसे वापस करने होते थे. इसी के चलते ही मसाला फ़िल्में बनती है. आज भी 100 करोड़ का क्लब इसी बात को ध्यान में रखते हुए बना है..

राजनीतिक फिल्मों को आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है और यह बात मद्रास कैफे की रिलीज से साबित होती है. इस फिल्म को दक्षिण भारत में विरोध झेलना पड़ा था और इसी कारण से एक अच्छी फिल्म अपनी कमाई करने से रह गयी. मुंबई में तो एक चलन है कि यदि फिल्म में कुछ ऐसा है जो ठाकरे परिवार या मराठी अस्मिता को चोट पहुँचाता हो तो उसको पहले ठाकरे परिवार पास करेगा तभी वह भारत में और महाराष्ट्र में रिलीज होगी. यह एक अलग तरह की तानाशाही है जो फिल्म व्यापार को प्रभावित करती है और यही पर सिनेमा का नया राजनैतिक अंतर्संबंध दृष्टिगोचर होता है. सिनेमा कथ्य में तो राजनैतिक है ही लेकिन उसको वास्तविक राजनीति भी प्रभावित कर रही है. ‘सत्याग्रह’

में यह बात हम देख सकते हैं. तात्कालिक मुद्दों पर फिल्म और फिर उसको लेकर चर्चा यह फिल्म का बाजार तैयार करने का तरीका है.

4- राजनीतिक विषय सिनेमा से अछूते क्यों और युवा का इन राजनीतिक फिल्मों पर पड़ता प्रभाव –

भारत की बहुसंख्यक आबादी युवा है जो 15 से 35 आयु वर्ग की है. यह आबादी आज फिल्मों को बेतहाशा देखती है और मैं यहाँ बेतहाशा शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ क्योकि वास्तव में अब सिनेमा घर घर पहुँच चुका है. आप अपने लैपटॉप पर या फिर टी वी पर आराम से कभी भी फिल्म देख सकते हैं. अब युवा फिल्म देखता है और जीता भी है. यही कारण है कि विषय में बदलाव तो आ रहा है साथ ही उसके प्रस्तुतीकरण में भी बदलाव दिख रहा है. अब पश्चिम का सिनेमा लोगो की जद में है और इसके चलते लोग सिनेमा को नए तरीके से देखना चाहते है. इसको पश्चिम का प्रभाव कहा जा सकता है. अच्छा सिनेमा सभी देखना चाहते है लेकिन भारत में वह बन नही पाता है और जो अच्छा बन रहा है उसको कई समीकरण प्रभावित कर रहे हैं. यही कारण है कि निर्देशक पर दबाव बढ़ गया है कि अच्छा सिनेमा सामने रखे.

युवा इसी सिनेमा को देखता है और सीखने और कुछ करने की चाहत पैदा कर पाता है, वह चाहे सकारत्मक रूप में हो या नकारात्मक. 'धूम' फिल्म आने के बाद युवाओं में बाइक के प्रति चाहत बढ़ी तो वही चोरी की वारदात भी बढ़ी. 'रंग दे बसंती' ने युवाओं के सिस्टम के प्रति गुस्से को मुखर कर दिया था और उसी समय कई आन्दोलनों में युवा की भागीदारी अचानक बढ़ गयी. उसी समय केंद्र द्वारा जब केंद्रीय संस्थानों में आरक्षण का फैसला भी सामने आया था और युवाओं के वर्ग ने उसपर जबरदस्त प्रतिक्रिया दी थी. सिनेमा जीने और सोचने के ढर्रे को बदलता है, जो आपके आस पास हो रहा है और जिससे आप रोज जूझते है, उसी को जब हम परदे पर देखते है तो खुद को उससे जुदा महसूस करते हैं. बात प्रेमकहानी या इसी तरह के मुद्दे की नहीं है, वह जब दर्शक को

जोडती है तभी प्रभावी होती है. युवा इन्ही फिल्मों से खुद को जोड़ना चाहता है. 'राजनीति' में मनोज बाजपेई का ये संवाद "करारा जवाब मिलेगा" को युवा खुद के आक्रोश से जोड़ता है और जवाब खोजता है. यही ऐसी राजनीतिक फिल्मों की सफलता है कि वह आपको सोचने पर मजबूर कर दे. छात्र राजनीति पर बनी 'दिल दोस्ती इटीसी' दिल्ली की कहानी है. इसमें केवल युवा है उसके सपने है, राजनीति है और साथ ही साथ प्रेमकहानी भी है. युवाओं पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ता है. यूपी बिहार से दिल्ली पढाई करने आया युवा खुद को इस फिल्म से जोड़ लेता है क्योकि वह भी उसी हास्टल में रहता है और वैसी ही जिंदगी जीता है. ये युवा देवदास का वो युवा नहीं है जो पारो की चौखट पर दम तोड़ देता है बल्कि अनुराग का देव डी है जो जिंदगी को नए सिरे से चालू कर देता है सब भूलभाल कर. सिनेमा जहाँ युवा को प्रभावित कर रहा है वही वह खुद भी उससे प्रभावित हो रहा है.

इसके अलावा यह तथ्य भी कि आखिर भारत में राजनीतिक सिनेमा से अछूत जैसा व्यवहार क्यों होता है. निर्देशक ऐसी फ़िल्में बनाने से डरता है. उसके पीछे जो मुझे सबसे बड़े कारण नजर आये वे ये हैं कि ऐसी फिल्मों में पैसा जल्दी कोई लगाना नहीं चाहता है क्योकि भारत में इन फिल्मों का कोई विशेष बाज़ार नहीं है. दर्शक इन फिल्मों से ऊब भी सकता है क्योकि यदि किसी गंभीर राजनीतिक समस्या पर फिल्म है तो वो थोड़ी डार्क टोन के साथ होगी ही. 'सरकार' ऐसी ही फिल्म थी, और वह फिल्म कोई बहुत बड़ा बिजनेस नहीं कर सकी. हालाँकि माहौल थोडा बदला है और उसके पीछे कारण ये है कि लोगो ने ऐसा सिनेमा अब पसंद करना थोडा शुरू कर दिया है. हालाँकि ये अभी मल्टीप्लेक्स कल्चर ही है, केवल क्लास के लिए बनी फ़िल्में न की जन (मास) के लिए. मसाला फ़िल्में अभी भी बहुत बड़े पैमाने पर बन रही है. अच्छी फिल्मों का अकाल सा पड़ने लग गया है. पूरे साल में केवल कुछ अच्छी फ़िल्में बनती है और उसमे राजनीतिक सिनेमा तो नहीं के बराबर होता है. हिंदी से ज्यादा अच्छा इस मामले में दक्षिण का

सिनेमा कर रहा है और वह थोड़ी अच्छी इन्टेसिटी के साथ राजनीतिक फिल्म बना रहा है. हिंदी का दुर्भाग्य कहिये इसे कि यहाँ पर100 करोड़ क्लब और स्टार सिस्टम अच्छी कहानियों को बर्बाद कर देता है. शायद इसीलिए श्याम बेनेगल कहते है कि 'राजनीतिक सिनेमा खूब बनाये लेकिन इस बात को ध्यान में रख कर कि इसमें खतरा ज्यादा है फिल्म के डब्बाबंद होने का'. अब थोडा परिदृश्य सुधरता नजर आ रहा है लेकिन बहुत ज्यादा नही. युवा को अब ऐसे सिनेमा के लिए खुद आगे आना होगा. उसे उन फिल्मों को देखना होगा जो किसी विशेष राजनीतिक स्वर की चर्चा करती हो. अभी हाल ही में आई फिरोज अब्बास खान की "देख तमाशा देख' एक अच्छी फिल्म है लेकिन यह केवल सीमित दर्शको तक सिमट कर रह जाएगी शायद.

इस मामले में प्रकाश झा बेहतर माना जा सकता है क्योकि उनकी फ़िल्में एक व्यवसायिक ढांचे में नजर आती है जबकि विषय और उसके स्वर सामाजिक राजनैतिक होते है. फिल्मों में बड़े सितारों को लेते है और एक नए सब्जेक्ट को सामने रखते है. इस पर वह खुद कहते है कि "मृत्युदंड में माधुरी को लिया था, उसके बाद गंगाजल और अपहरण में अजय देवगन को लिया. फिर राजनीति में कैटरीना और रणबीर कपूर को. दर्शक बड़े सितारों को देखने सिनेमा हाल तक आता है और यही चीज मैं चाहता हूँ.'

आज का सिनेमा बदला है और वह लगातार बदल रहा है. यही बदलाव प्रमुख है. एक फिल्म राजनीतिक तंत्र को उभारे बिना भी राजनीतिक हो सकती है। वरिष्ठां फिल्मकार श्याम बेनेगल कहते हैं, 'कुछ फिल्में ऐसी हैं जो सीधे राजनीति को दर्शाती हैं और कुछ फिल्में ऐसी भी होती हैं जो दूसरे कोण से इसे दिखाती हैं। इस मामले में बेनेगल की सभी फिल्में राजनीतिक हैं। इसमें आप वर्ष 2008 में आई 'वेलकम टू सज्जनपुर और इसी साल आई 'वेल डन अब्बा को भी शुमार कर सकते हैं। सुधीर मिश्र की समीक्षकों द्वारा बेहद सराही गई फिल्म

'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' 2005 में रिलीज हुई थी और उसकी कहानी राजनीतिक बदलाव के दौर से गुजर रहे तीन युवाओं पर आधारित थी।

इसमें आपातकाल से पहले और आपातकाल के बाद का घटनाक्रम दिखाया गया है। मौजूदा दौर में नक्सलवाद को लेकर चल रहे बहस के दौर में उनकी फिल्म काफी प्रासंगिक बन जाती है। मिश्रा नक्सलवाद को उस वक्त सरकार के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करने का एक जरिया मानते हैं.

आज का निर्देशक इस बात को ध्यान में रख कर फिल्म बना रहा है कि यदि वह कोई प्रेम कहानी भी दिखाता है तो ऐसी हो जो लोगो को अपने नजदीक लगे. जैसे 'काई पो चे' में अभिषेक कपूर ने दिखाई है तो मनीष शर्मा की ' शुद्ध देसी रोमांस' में. बात हम राजनीतिक सिनेमा की कर रहे है जो भारत में बहुत कम है और हिंदी सिनेमा में तो सबसे कम. अब यदि निर्देशक ऐसी कहानी चुनते है जो युवा को ध्यान में रख कर लिखी जाये तो यह कही ज्यादा मुफीद होगा बजाये इसके कि वो कही और से कहानी चुराएँ या अपनाएं, यदि सिनेमा में अच्छी कहानी होगी तो लोग उसे पसंद करेंगे और यह बात दर्शक और निर्देशक दोनों जानते हैं.